Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 GISRRJ | Volume 3 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

भारतीय किसान और विस्थापन की समस्या

सुभ्रांसिस बारिक
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
खैरियर (स्वायत्त) कालेज, नौपाड़ा, ओडिसा, भारत।

Article Info
Volume 3 Issue 6
Page Number : 60-65
Publication Issue :
November-December-2020

सारांश– आजादी के पहले से लेकर वर्तमान समय तक किसानों का विस्थापन जारी है। गाँव में साहूकारों, जमींदारों और धार्मिक पुरोहितों के शोषण का शिकार किसान मजदूर बनने को विवश होता था। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण पूंजी और बाजार के प्रभाव ने इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया है। आज हजारों– लाखों एकड़ जमीन बिना खेती के खाली पड़ा है। जिस लोकतंत्र की सरकार का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व यह होना चाहिए था कि वह किसानों, गरीबों और वंचितों के जीवन स्तर को और बेहतर बनाती, उसने उल्टा इनका जीवन और दूभर कर दिया। अमीर और गरीब की खाई इस कदर चौड़ी हो रही है कि एक मुट्ठी भात के अभाव में बच्चा दम तोड़ रहा है। भूख सहन न हो पाने से दो मुट्ठी चावल चुराकर लोगों के द्वारा जान से मारा जाता है। वहीं पूँजीपतियों का नाम दुनिया के अमीर लोगों की सूची में प्रमुखता से आ रहा है। किसानों से उनकी जमीने छीनकर उन्हें उनकी जमीनों से बेदखल किया जा रहा है।

Article History
Accepted : 01 Dec 2020
Published : 25 Dec 2020

मुख्य शब्द– आजादी, भारतीय, किसान, विस्थापन, समस्या, वर्तमान, धार्मिक, शोषण, शिकार, मजदूर।

स्वतंत्रता के बाद 1952 में आम चुनाव हुए और कांग्रेस बहुमत से विजयी हुई। नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य समाजवाद घोषित किया। यहीं से वह युग शुरु हुआ जिसे नेहरू युग कहा जाता है। लेकिन बाद का इतिहास यह अवगत कराता है कि शीघ्र ही आम जनता का मोह नेहरू सरकार की नीतियों से भंग हो गया। इस मोहभंग के कई कारण थे। जिस भारतीय धन के विदेश चले जाने पर भारतेंदु ने दु:ख जताया था वह धन नेहरू सरकार द्वारा विदेशी पूँजी के स्वतंत्र निवेश की सुविधा के कारण अभी भी बाहर जा रहा था। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में अमीरी और गरीबी की खाई को और बढ़ा दिया। समाजवाद सिर्फ एक नारा बन कर रह गया जो वोट माँगने के काम आने लगा। आलोचक विजय कुमार के शब्दों में, "स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का भारत एक ओर सामंतवादी सामाजिक संरचना में जकड़ा था और दूसरी ओर भीषण आर्थिक संकट में। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का राष्ट्र का नेतृत्व जिस शहरी, अभिजात और उच्चवर्गीय संस्कारों वाले

Copyright : © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

नेतृत्व के पास आया उसके पास विकास की अवधारणा पश्चिम के विकसित औद्योगिक ढ़ाँचे पर आधारित थी। नेहरू ने विकास की जो कल्पना की थी वह पूँजीवादी ढ़ाँचे को सामंतवादी आधार पर खड़ा करना था"[i]

पंचवर्षीय योजनाओं की विफलता, भूमि सुधारों का ठीक से कार्यान्वयन न होना, उद्योगों एवं राष्ट्रीय आय की धीमी विकास दर, निरंतर बढ़ती जनसंख्या, जाति–धर्म और आर्थिक क्षेत्र में समाज में बढ़ती विषमता, अनियोजित नगरीकरण, असफल औद्योगिकरण, राजनीति में प्राप्त भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता और बेरोजगारी से जनता हताश–निराश होने लगी। 18वीं शताब्दी में इग्लैंड की औद्योगिक क्रांति में एक नई सामाजिक सभ्यता का जन्म हुआ, जिसे औद्योगिक सभ्यता कहा गया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता थी उत्पादन में मशीनों का आधिपत्य। औद्योगिकरण के कारण समाज में दो वर्ग पैदा हो गए– पूँजीपति और श्रमिक। औद्योगिकरण ने सामाजिक ढाँचे में बहुत बड़ा उलटफेर किया। मिलों और फैक्टरियों में काम करने के लिए बहुत भारी संख्या में लोग गाँवों से शहरों की ओर पलायन करने लगे। इससे भारतीय समाज में वर्षों से चली आ रही संयुक्त परिवार व्यवस्था चरमरा गई। शहरों की ओर भागने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप व्यक्ति तमाम तरह की परेशानियों से घिरने लगा। गाँवों से भारी मात्रा में शहरों में पलायन के कारण समाज में बहुत सी अनियमितताएँ पैदा हो गई। संयुक्त परिवार की जगह वैयक्तिक परिवार व्यवस्था, संबंधों में रसात्मकता का अभाव, महंगी जीवन–शैली, बेरोजगारी की समस्या, बुजुर्गों के प्रति उदासीनता और सम्मान के साथ जीवन जी रहे किसानों का धीरे–धीरे मजदूर बन जाना। आज देश के अधिकांश गाँव युवा विहीन हो चूका है। यह विडंबना है कि वर्त्तमान का युवा मेहनत मजदूरी, चौकीदारी आदि कोई भी छोटा–मोटा काम कर लेगा। दूसरे राज्य में जाकर मजदूरी करेगा, इंट बनाएगा, कारखानों में 12 घंटा काम कर लेगा पर खेती–किसानी करना नहीं चाहता। कम से कम उसे आत्महत्या करने की नौबत तो नहीं आएगी। मेहनत मजदूरी से भले ही उसे ज्यादा मुनाफा न मिले पर खेती से होनेवाली नुकसान का भार तो उठाना नहीं पड़ेगा। कथाकार संजीव का 'फाँस' उपन्यास में शकुन नामक एक महिला पात्र कहती है "इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है।"[ii] कर्ज किसान का सबसे बड़ा दु:ख–दर्द है। इसी कर्ज के चक्रव्यूह में 'गोदान' उपन्यास का होरी किसान से मजदुर बन जाता है और उसी वजह से असमय उसकी मौत हो जाती है। आज बहुत संख्या में किसान खेतीबाड़ी छोड़ चुके हैं। जिनके पास कोई दूसरा काम नहीं है या जो बड़े किसान हैं वही लोग खेती से जुड़े हुए हैं। 'फाँस' उपन्यास का शिबू नामक पात्र जब किसानी छोड़कर शहर में जाके मेहनत मजदूरी करके जीने की बात करता है तो शिबू की छोटी बेटी कलाबती अपने पिता से कहती है "तुम ही नहीं, इस देश के सौ में से चालीस शेतकरी आज हीं खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानी छोड़ दी।"[iii] मगर शिबू अपनी दो बेटियों और पत्नी को अकेले छोड़ कर शहर जा भी नहीं सकता क्यूंकि जिस घर में पुरुष न हो उस परिवार को हमारा समाज ढंग से जीने नहीं देता। यह बात सही है कि वर्तमान में केवल किसानी करके परिवार चलाना बहुत मुश्किल का काम है। इसी वजह से गाँव में रोजगार न पाकर लोग शहर के तरफ पलायन कर रहे हैं।

विस्थापन आज के भूमंडलीकृत समाज का अनिवार्य हिस्सा बन गया है। अमीर–गरीब, किसान–मजदूर, नेता–अभिनेता, अध्यापक–विद्यार्थी, समाज का हर वर्ग अपनी जमीन से कटकर विस्थापित जीवन जी रहा है। लेकिन विस्थापन ने हर वर्ग के जीवन को अलग–अलग प्रभावित किया है। एक मजदूर या किसान जब विस्थापित होता है तो उसकी समस्याएँ

एक सरकारी कर्मचारी के विस्थापन से कहीं बड़ी होती है। मालिक उन किसान मजदूरों का बहुत शोषण करता है। पैसे कम देता है और दिन–रात काम करवाता है। कोई तीज–त्यौहार पर छुट्टी नहीं मिलती। वह परिवार से कट जाता है। समय पर पैसा नहीं मिलता है। एक किसान जब गाँव से शहर आता है तो परिवार का बोझ ढ़ो कर आता है। अनेक सपने लेकर आता है, कि उसका भविष्य बेहतर होगा। लेकिन समस्याओं का सिलसिला बढ़ता हीं जाता है। 'चलती चाकी' उपन्यास का एक किसान पात्र जो होशंगाबाद शहर में चौकीदारी का काम कर रहा है, एक दिन गाँव से खबर आती है कि उसके चाचा की मौत हो गई है और वह जल्दी लौट आए। इस पर अपनी लाचारी व्यक्त करते हुए वह व्यक्ति कहता है "नहीं जाएंगे सर, अभी डेढ़ महीना हुआ है ज्वाइन किए। तनखाहो नहीं मिला है। जाएंगे तो फिर नौकरी चली जाएगी। बहुत करजा है बाबूजी की ऊपर। यहीं कपार छिलवा लेंगे। वहां तो खेत–बारी बन्ह्की रखके उनका काम किरिया लोग करिए देंगे। मुलकात तो होइए नहीं पाया। अब जा के भी का करेंगे।"[iv] कर्ज मनुष्य के आत्मा का बोझ बन जाता है। व्यक्ति के मरने के बाद भी वो पीछा नहीं छोड़ता। पिता का कर्ज अपने आप ही बेटे के सर पर आ जाता है। वह जमीन जायदाद बेचकर कर्ज चुकाता है या फिर आत्मसम्मान से न जी पाने के डर से आत्महत्या कर लेता है। प्रेमचंद की कहानी 'सवा सेर गेहूं' में बिलकुल ऐसा हीं होता है। शंकर नामक पात्र 'सवा सेर गेहूं' के बदले बीस साल तक ब्राह्मण महाजन का कर्ज चुकाता है, बंधुआ मजदुर बन जाता है फिर भी कर्ज बाकि रह जाता है और अंत में शंकर के बेटे के सिर पर वह कर्ज आ जाता है। किसान के बेटे को यह कर्ज विरासत में हीं मिल जाता है।

आजादी के पहले से ही चौतरफा शोषण का शिकार किसान, किसानी छोड़कर मजदूर बनने के लिए विवश हो गया था। किसी किसान का मजदूर बन जाना उसके जीवन की एक त्रासदी है। विस्थापन किसान को आर्थिक ही नहीं मानसिक रूप से भी आघात पहुँचाता है। यदि उपन्यासों में विस्थापन की समस्या की खोज की जाए तो इसका पहला संकेत प्रेमचंद का कालजयी उपन्यास 'गोदान' में ही मिल जाता है। 'गोदान' में पहले 'गोबर' गाँव से शहर की ओर पलायन करता है और उसके बाद जीवन भर मरजाद के साथ जीने की चाह रखने वाला होरी भी किसान से मजदूर बनकर मृत्यु को प्राप्त करता है।

आजादी के समय से लेकर अबतक भारतीय समाज में कई तरह के विस्थापन हुए। दंगा पीड़ितों का विस्थापन, रोजगार और शिक्षा के लिए विस्थापन आदि स्वेच्छा से हुआ। विस्थापन उतना पीड़ादायक नहीं होता जितना की जबरदस्ती किसी वर्ग को उसकी जड़ों से काटकर विस्थापित कर दिया जाए। वर्तमान समय में जो विस्थापन हो रहा है वह ज्यादा जबरदस्ती वाला है जिसमें सरकारें पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने के लिए आदिवासी, किसानों और वंचित लोगों को बलपूर्वक उनकी जड़ों से काटकर अलग कर रही है। वह भी उनके पूनर्वास की सही व्यवस्था किए बिना। उनकी जमीनों को कौड़ियों के भाव खरीदकर पूंजीपतियों के हाथ में दिया जा रहा है। जब किसान उनका विरोध करते हैं तो उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ झेलनी पड़ती है, जेल भेज दिया जाता है और गोलियों का शिकार बनाया जाता है।

समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने किसानों की इस त्रासदी को भलि–भाँति समझा है और सत्ता की चालाकियों को भी बेनकाब किया है। भूमंडलीकरण ने किस प्रकार किसानों के साथ छल किया है इसे रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' के इस कथन से समझा जा सकता है– "सामान्य तौर पर इन आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाश मार्ग से या सेटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज संपदा, जंगल और अन्य संसाधन

दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि इन पर तो हमारा हक है। उन्हें मालूम हे कि राष्ट्र–राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ। इन खनिजों पर जंगलों में घूमते हुए लंगोट पहने असुर–बिरिजिस, उराव–मुंड़ा आदिवासी, दलित–सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफ्त होती है। वे इन कीड़ों–मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं।"[v] इस उपन्यास में किसानों और वंचित तबके के शोषण के हर पहलू को उपन्यासकार ने उकेरा है। सरकार, पूंजीपतियों के साथ स्थानीय शोषकों का भी लेखक ने पर्दाफाश किया है।

जब आदिवासी किसान विस्थापित होकर बंधुआ मजदूर बन जाता है, तो उसे अपने पेट की चिंता के साथ–साथ परिवार के सदस्यों की सुरक्षा की भी चिंता रहती है। मेहनत–मजदूरी करने वाली स्त्रियों को किस अमानवीय शोषण का सामना करना पड़ता है उसे राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' के इस कथन से समझा जा सकता है, "आदिवासी किशोरियों–युवतियों को प्राय: अपने तंबू में खींच ले जाते थे। अकेली आदिवासी मद्यप ठेकेदार और वर्षों से स्त्री सुख को तरसते रेल अधिकारियों की वासना पूर्ति हेतु उठा ली जाती थी। राजमहल क्षेत्र के मजदूरों की स्थिति टुक–टुक ताकती रहने वाली उस बकरी की भाँति थी जिसकी आँखों के सामने से उसके छौने उठा ले जाता है कसाई। रिरियाती–गिड़गिड़ाती आदिवासी स्त्रियों को खींचते देख माथे पर हाथ रखे मूक ताकते रहते थे निर्बल वनवासी। प्राय: घायल स्तनों, खरोचों से भरे चेहरों और रक्त के थक्कों से लिथड़े योनिकोशों के साथ तंबुओं से बाहर फेंक दी जाती थी।"[vi]

विस्थापन की समस्या पहले से रही है किंतु भूमंड़लीकरण ने इस समस्या को और अधिक त्रासद बना दिया है। पहले किसानों की जमीन लेने के लिए सरकार सार्वजनिक हित का भी बहाना बनाती थी किंतु अब खुले आम। कभी लालच देकर और कभी बंदूक के बल पर किसानों की जमीन छीनी जा रही है। मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड़, बंगाल, ओड़िशा सहित देश के कई राज्यों में किसान विस्थापन की समस्या से जूझ रहे हैं। बड़ी–बड़ी कंपनियाँ सरकार की मदद से किसानों की जमीनों को थोड़े से पैसे देकर ले लेती है और न चाहते हुए भी किसानों को दर–बदर भटकना पड़ता है। जमीन के मालिक होते हुए भी वे मजदूर बनने को विवश हो जाते हैं।

वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' और 'पार' आजादी के बाद गाँव से हुए विस्थापन और ग्रामीण जीवन शैली का प्रामाणिक अंकन करते हैं। 'डूब' उपन्यास चंदेरीराज की सीमा में तीन तरफ से पहाड़ और एक तरफ से बेतिया नदी से घिरे 'लडैया' गाँव को केंद्र में रखकर लिखा गया है। देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने बेतिया नदी पर राजघाट बांध परियोजना का स्वप्न देखा था। वह परियोजना रूस के सहयोग से पूरी होने वाली थी। 'लडैया' गाँव इस परियोजना के डूब क्षेत्र में आ गया था। नेहरू के समय में यह परियोजना स्थगित रही। इंदिरा गाँधी ने इसका शिलान्यास किया किंतु काम आगे नहीं बढ़ा। तीस वर्षों तक परियोजना लटकी रही। इस बीच गाँव वालों को विस्थापित कर दिया गया। भ्रष्ट नौकरशाहों और साहूकारों के कारण उन्हें उचित मुआवजा भी नहीं मिला। अंतत: गाँव को फिर से पहाड़ पर बसाने और इस क्षेत्र को जंगली पशुओं के लिए अभयारण्य बनाने की बात सोची गई। किंतु एक दिन सहसा राजघाट बांध के तटबंधों में से एक टूट गया। लडैया गाँव सहित पूरा क्षेत्र जलमग्न हो गया। सरकार की ओर से बांध टूटने की सूचना के साथ बांध कर्मचारियों की दूरदर्शिता की प्रशंसा करते हुए प्रसारित हुआ कि उन्होंने पहले ही गाँव वालों को उचित मुआवजा देकर खाली करा लिया था। इसलिए किसी के भी जान या माल का नुकसान नहीं हुआ। अपनी नाकामियों को छुपाने के लिए सरकारें किस तरह का झूठ

गढ़ती है इसे इस घटना से समझा जा सकता है। विस्थापित होने की सूचना ग्रामीणों में एक साथ निरीहता, आक्रोश और बेचारगी का भाव पैदा करती है। 'डूब' उपन्यास में जब ग्रामीणों को उनके विस्थापन की सूचना दी जाती है तो उपन्यास का एक पात्र इस प्रकार प्रतिक्रिया देता है–

"तो क्या अब हम यहाँ नहीं रह पाएंगे?
कहाँ जाएंगे फिर हम?
मास्साब तो कहते थे कि बांध बन जाने से अपने
गाँव में खुशहाली आएगी!
तो क्या उस खुशहाली में हमारी कोई भागीदारी नहीं होगी...?" [vii]

इन प्रश्नों का उत्तर न में ही मिलता है। सत्ताएँ हमेशा से किसानों और वंचितों के साथ फरेब करती आ रही हैं। इस बात का एहसास होने पर उपन्यास का पात्र माते आक्रोश व्यक्त करते हुए कहता है– "कैसा फरेब है ये? कितना बड़ा झूठ है ये? कैसी खुशहाली है ये? नरबलि लेगा ये? पशुबलि लेगा? धरती माता की बलि लेगा? धोखा है ये। जो हमे लीलेगा वह औरों को भी लीलेगा। वह फिर किसी को खुशहाल नहीं करेगा। बाघ को आदमी का मांस चखा दो तो वह आदमखोर हो जाता है। नरभक्षी हो जाता है वह। और बांध को...?"[viii] ये कैसी विड़ंबना है कि विकास का वास्ता देकर जिन किसानों को भविष्य के सुनहरे सपने दिखाए जाते हैं वही सबसे ज्यादा दुख झेलते हैं। इतना बड़ा निर्णय लेने से पहले सरकारें उन्हें विश्वास में भी नहीं लेती, "ताज्जुब की बात तो यह कि ये सब तय हुआ कब? हमसे बिना पूछे हमारी तबाही का फैसला ले लिया? ऐसा तो डाकू भी नहीं करते। वे धन जरूर लूटते हैं, पर घर से बेघर नहीं करते। वे तो अमीरों को सताते हैं जो दीनों को सताते हैं दिन–रात। और यह सरकार! यह गरीबों को सताएगी! उन्हें सताएगी जिन्हें भाग्य, भगवान, धनवान सभी पहले ही सताने पर अमादा है?"[ix]

सत्ता विकास का झुनझुना बजाकर किस प्रकार विनाश की लीला रचती है उसे 'डूब' उपन्यास में बेहद संवेदनशील ढंग से दिखाया गया है। उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए आलोचक रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, माते को प्रतिनिधि बनाकर उपन्यास 'डूब' विकास बनाम विनाश के सवाल को जमकर उछालता है– कभी भावुक होकर, कभी करुणा जगाकर, कभी नाराजगी जताकर, कभी उजाड़े जाने पर मर जाने की भविष्यवाणीनुमा धमकी देकर। माते का बर्राना जायज है क्योंकि "जबसे बेतवा नदी पर बांध बनाने की योजना के अधीन लडैइ को डूब क्षेत्र घोषित किया गया है, तब से विकास का आना तो दरकिनार, वहाँ पहले से मुहैया सुविधाओं को धीरे–धीरे छीना जाने लगा है। गाँव में स्कूल था, अब उसे उठाकर किसी अन्य स्थान पर रोप दिया गया है। डूब क्षेत्र को पढ़कर जागने की क्या जरूरत! खेती के लिए बेहतर सुविधाओं की बात कौन करे, चरागाह के लिए खुला मैदान भी नहीं रहा बांध के चलते। तिस पर हर साल बांध की कृपा से लाइ जाने वाली कृत्रिम बाढ़! कितनी प्राकृतिक–अप्राकृतिक आपदाओं से जूझे अकेला निहत्था आदमी! पूरा गाँव स्तब्ध है और माते क्षुब्ध। सरकार के प्रति गहरा अविश्वास। सरकारी नितियों के प्रति अनंत संदेह। इतना की सरकारी सम्मान के पीछे सरकार द्वारा दंडित किए जाने की साजिश की कल्पना क्योंकि यह सरकार किसी को फलता–फूलता नहीं देख सकती।"[x]

आजादी के पहले से लेकर वर्तमान समय तक किसानों का विस्थापन जारी है। गाँव में साहूकारों, जमींदारों और धार्मिक पुरोहितों के शोषण का शिकार किसान मजदूर बनने को विवश होता था। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण पूंजी और बाजार के प्रभाव ने इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया है। आज हजारों- लाखों एकड़ जमीन बिना खेती के खाली पड़ा है। जिस लोकतंत्र की सरकार का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व यह होना चाहिए था कि वह किसानों, गरीबों और वंचितों के जीवन स्तर को और बेहतर बनाती, उसने उल्टा इनका जीवन और दूभर कर दिया। अमीर और गरीब की खाई इस कदर चौड़ी हो रही है कि एक मुट्ठी भात के अभाव में बच्चा दम तोड़ रहा है। भूख सहन न हो पाने से दो मुट्ठी चावल चुराकर लोगों के द्वारा जान से मारा जाता है। वहीं पूँजीपतियों का नाम दुनिया के अमीर लोगों की सूची में प्रमुखता से आ रहा है। किसानों से उनकी जमीने छीनकर उन्हें उनकी जमीनों से बेदखल किया जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

---

[i] विजय कुमार, साठोत्तरी हिंदी कविता परिवर्तित दिशाएं, पृष्ट-11

[ii] संजीव, फाँस' वाणी प्रकाशन, 2015, पृष्ठ-15

[iii] संजीव, फाँस' वाणी प्रकाशन, 2015, पृष्ठ-17

[iv] सूर्यनाथ सिंह, चलती चाकी, सामायिक प्रकाशन, 2011, पृष्ठ-149

[v] रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, सं. 2013, पृ-93

[vi] राकेश कुमार सिंह, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005, पृ-51-52

[vii] वीरेंद्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, 2014, पृ-108

[viii] वही, पृ-108

[ix] वीरेंद्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, 2014, पृ-108

[x] रोहिणी अग्रवाल, हिंदी उपन्यास समय से संवाद, आधार प्रकाशन, 2016, पृ-22